भागो भागो भागो। यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है

शशिकला राय

सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

यह जो सुनाई देता हुआ है
गले का इस्तेमाल है, तयशुदा आवाजों के लिए
यह आदमी जो इतना बोलता हुआ
दिखाई दे रहा है।
कब की खामोश हो चुकी है, इसकी आवाज।

– प्रभात

'रागदरबारी' (1968) की उम्र पचास वर्ष से अधिक हो गई है। और मै उसे बहुत ध्यान से देख रही हूँ, अपनी उम्र को पीछे ढकेलने के लिए क्या किया उसने। कुछ भी तो नहीं। फिर से 'रागदरबारी' बेतरह याद आने लगा है। 'रागदरबारी' में पाठक अपने समय को अभिव्यक्त करने का औजार तलाशने लगा है। भारत में 'रागदरबारी' और अमेरिका में 'एनिमल फॉर्म' और 1984 (जार्ज एरविल) वह जनतांत्रिक प्लेटफार्म बन गया है, जहाँ से बल लेकर आगे की दिशाएँ तय की जायेगीं। 'रागदरबारी' शोरगुल भीड़ से भरा उपन्यास है। उपन्यासों के पारंपारिक पैरहन को छोड़ता हुआ यह दरअसल उन बदहवास लोगों की चीखें हैं, जिनकी आवाजें बकौल "प्रभात" कब की खामोश हो चुकी हैं। श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' की प्रस्तावना में लिखते हैं– ''कोई कृति दोषयुक्त होने के बावजूद धीरे–धीरे क्लासिक का दर्जा ले सकती है।'' निसंदेह 'रागदरबारी' की भाषा और मुहावरे कई बार स्त्रियों को छीलते चलते हैं। इस बात से मुझे कत्तई इनकार नहीं, लेकिन यह भी जरूरी है, कि भाषा को विरचित करके उसका पाठ किया जाय ताकि परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए उसका अर्थ ग्रहण किया जा सके। 'रागदरबारी' भाषा का नहीं, भाषा में उपन्यास है। भाषिक पैटर्न के भीतर अपने स्वरूप को निर्धारित करता हुआ। भाषा महज साधन के रूप में न होकर स्वयँ साध्य बन गई। एक ऐसी दुधारी तलवार जो एक तरफ लोकतंत्र के नकाब को चीर कर बेपर्द कर देती है और दूसरी ओर हमारे मुखौटों को भी भेद देती है। 'रागदरबारी' की भाषा के आधार पर यदि आप

स्केच तैयार करते हैं, तो निसंदेह ही वह 'चार्ली चौप्लीन' का बनेगा। जो तानाशाही के विरूध्द लड़ रहा है, और आपको मजाक लग रहा है। शिवपालगंज और उसके किरदार भारत के किसी गाँव का प्रतिनिधित्व नहीं करते बल्कि भारत ही है। जिसके एक छोर पर सनीचर है और दूसरे पर वैद्य जी। न्याय व्यवस्था "लंगड़" है। रौंदते ट्रक हैं और आहत सडकें। बुध्दिजीवी वर्ग, मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग, पलायन संगीत की तानें छेड़ रहा है। वाटस्अप, फेसबुक कभी पकोड़े के तो कभी मोरनी के गर्भवती होने के मजाक में डूब रहा है। पुरोहित वर्ग शाही मस्तक बाँचने में मस्त है। ''तुम्हे यहीं रहना पड़े तो अलग से अपनी हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जिसमें बहुत से बुध्दिजीवी आँख मूँद कर पड़े हैं। होटलों और क्लबों में, शराबखानों और कहवाघरों में। चण्डीगढ़, भोपाल, बंगलौर के नवनिर्मित भवनों में पहाड़ी आरामगाहों में जहाँ कभी न खत्म होने वाले सेमिनार चल रहे हैं। विदेशी मदद से बने हुए नये–नये शोध संस्थानों में जिनमें भारतीय प्रतिभा का निर्माण हो रहा है। चुरूट के धुँए चमकीले जैकेट वाली किताब और गलत किंतु अनिवार्य अंग्रेजी की विश्वविद्यालय में। वहीं कहीं जाकर जम जाओ। फिर वहीं जमे रहो। यह न कर सको तो अतीत में छिप जाओ। कणाद, पंतजलि, गौतम में अजंता ऐलोरा में एलिफेंटा में कोर्णाक में शालभंजिका, सुरसुंदरी अलसकन्या के स्तनों में, जप तप संत, समागम ज्योतिष सामुद्रिक में जहाँ भी जगह मिले जाकर छिप रहो। भागो–भागो–भागो यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।'' (रागदरबारी पृश्ठ 333) इन भागते हुए चेहरों में 'डोमा उस्ताद कहीं नहीं है। (अंधेरे में मुक्तिबोध) भारत के राजनीतिक पटल से बुध्दिजीवी वर्ग पलायन कर गया है। प्रतिबध्दताविहीन, नैतिक क्षय और खुदगर्जी से ग्रस्त बुध्दिजीवी वर्ग जिसके संदर्भ में पवनकुमार वर्मा लिखते हैं– ''आजकल यही मध्यवर्ग 3,800 टन पोटाटो चिप्स खा रहा है। अपने ऊपर 15,100 टन टाल्कम पाउडर छिडक रहा है। शीतल पेय की 288 करोड़ बोतलों का पान कर रहा है और एक साल में एक करोड़ बार हवाई यात्राएँ करने में व्यस्त है।'' भारत में सामाजिक सरोकारों का मुद्दा दम तोड़ रहा है। घर स्कूल कॉलेज विश्वविद्यालय गाँव शहर कहीं भी सार्वजनिक उत्तरदायित्व की संहिता नहीं सिखायी जाती। जब उत्तरदायित्व की संहिता ही नहीं तो भारत माने गंजहों का देश और इसी देश में दुनिया की हर बर्बरता को जस्टीफाई किया जा सकता है। यहाँ हत्याओं को संयोग माना जाता है और प्रतिरोध को प्रपंच। अगस्त में पेड़ों पर बच्चों की मृत्यु खिलती है। प्रकृति गुणधर्म के विपरीत हो गयी है। एक तरफ पत्रकार हैं शिवपालगज के। क्या सिर्फ शिवपाल गंज के? ''उस शहर में लगभग आधे दर्जन हिंदी उर्दू के चीथड़े निकलते थे। जिन्हें वहाँ 'साप्ताहिक पत्र' कहा जाता था। चीथड़े उड़ाने वाले कुछ अर्धशिक्षित लोग थे जो अपने को पत्रकार कहते थे। जिनको पत्रकार लोग शोहदा कहते थे।'' तो इन्हीं शोहदों ने

लोकतंत्र के चौथे खंभे पर मधुशाला की तंबू तान दी। इनकी सोई हुई रीढ़ पर चढ़ कर सनीचर प्रधान बन गया। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं – ''प्रदेष की राजधानियों में न जाने कितने वैद्य और मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों के कतार में न जाने कितने सनीचर घुसे हुए दिख पड़े।'' सन् 1968 के 'न जाने कितने' सनीचर अब सबके सब सनीचरों में तब्दील हो गए। सनीचरों द्वारा पालित, संचालित, विखंडित संहारक संविधान से होली खेलने वाले भारत की हौलनाक तस्वीर श्रीलाल शुक्ल 1968 में ही देख ली थी। वे रागदरबारी के लेखक नहीं बल्कि भारतीय हालात के प्रवक्ता बन गए। धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, गबन, वंशवाद, व्यक्तिवाद कार्यपालिका, न्यायपालिका, धर्म, भक्ति सत्य अहिंसा गांधी जी सारा का सारा दृश्य गड्डमगड्ड कितना कुछ वीभत्स फूहड़। रागदरबारी फोटोग्रॉफिक रियालिज्म नहीं बल्कि सत्य की आँखों से देखा यथार्थ है। कानून ईमानदार को सजा देने का काम करता है। देश के कर्णधार युवा पढ़ने के अलावा बाकी सारे कार्यों में रूचि लेते हैं। क्यों कि उनके आका बैठै हैं व्यवस्था के महकमों में। जहाँ हाथी की तरह ढाई घर चल कर किसी को भी मार सकते हैं। मास्टर खन्ना का त्यागपत्र ईमानदार शिक्षक की नियति है। गयादीन की "बेटी" होने का मतलब "बदचलन" होना है। यह भारत के राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक पतन की पराकाष्ठा थी। हालात आज भी ''जैसे थे''। शिक्षण संस्थाएँ अघोषित माफिया है। यहाँ संभावनाओं की भ्रूणहत्या जारी है। भाड़ों का अड्डा। वातावरण का असहनीय शोर मनुष्यता की चीत्कार को उपन्यास की बेपरवाह हँसी मजाकिया शैली भी दबा नहीं पाती। इसी परिवेश में ऐसे लोग भी हैं जो झरोखें में बैठ कर मुजरा नहीं ले पाते। वे घुटते हैं, लड़ते है व्यथित होते हैं। अंत में दूर कहीं हवा के कैनवस पर जीने का मन बना लेते हैं। देशी स्रोतों से उमड़ती विद्रूपताएँ, विसंगतियाँ, विषमताएँ उन्हें पलायन के लिए उकसाती हैं। पर पलायन कहाँ? जो कुछ शिवपालगंज में हो रहा है आज और भी ज्यादा वीभत्स रूप में पूरे राष्ट्र में व्याप्त है। 'रागदरबारी' जैसी कृतियाँ कभी–कभी ही बन पाती है। दुबारा तो वह श्रीलाल शुक्ल जी से भी न बन जाती। भारतीय माटी को पहचान कर अभिव्यक्ति का सच, अनकही बातें, अनगिनत छवियाँ। यह उपन्यास सन् सन 1964 से 1967 तक अपनी निर्माण प्रक्रिया में फैला है। सन् 1968 में यह प्रकाशित होता है। पूरे देश में अशांति, अनिशिच्यतता को दौर जारी था। राजनीतिक उठापटक धार्मिकता और सांप्रदायिकता का विवाद इसके मूल में था। संकट, संशय, द्वन्द और दुविधा भरे माहौल में कुछ अजीब समय। खेत खेतिहर, शोषण, आदिवासी, नक्सलबाड़ी, नक्सलवाद से तपता समय, शोषण के विरूध्द बेचौन समय। सरकार, सत्ता का छद्म बूझा जा चुका था। राष्ट्रपति की अपील लोग 'अनुशासित रहें अपनी अर्थवत्ता खो चुका था। अनुशासन का तर्क गले नहीं उतर रहा था। भूखी जनता क्या करे? पेट में मरोड़ न

उठने दे? उस सरकार के खिलाफ कुछ न बोले जो अन्न की जगह भाषण सप्लाई कर रही थी। इसी समय का दस्तावेज है 'रागदरबारी'। इसी समय को मेरी टाइलर यूँ बयां करती है– ''कल्पना का अपराध है, जो भारत की उन असह्य स्थितियों को देख कर अविचलित और खामोश नहीं रह सकते। जिनमें भीख का बर्तन लेकर कोई बच्चा धूल में रेंगता रहा हो, जहाँ गरीब लड़की किसी अमीर की रंगरोलियाँ के लिए बेचा जा रहा हो। दुष्ट निरंतर समृध्द हो रहा हो ईमानदार कष्ट उठा रहा हो। जहाँ नियमतः अन्याय और अपवाद रूप में न्याय मिलता हो। ('सलाम बस्तर' राहुल पंडिता पृष्ठ संख्या 67) इसको पढ़ते समय बार बार भ्रम हुआ कि मैंने 'रागदराबारी' का ही कोई पृष्ठ बेभानी में पलट न लिया हो। चाहे लोकतंत्र या राजतंत्र राग तो दरबार का ही गाया जायेगा।

'रागदरबारी' पाठक को भी जनतांत्रिक बहस का हिस्सा बनाता है। सन् 1968 से 2018 तक के पचास वषीर्य इस उपन्यास के चेहरे पर चाहती हूँ कुछ धुंधली बासी, आउटडेट राजनीतिक सामाजिक धार्मिक रेखाएँ दिखें जिन्हें हल्के से पोंछ कर किताबों की रैक में रख दिया जाय, पर हैरान हूँ यह किताब 1968 से भी ज्यादा आज प्रतिरोध का परचम फहराने की जिद्द पर अड़ा है। जिस नयी भाषा का संधान आज चीन युवा कर रहे हैं, उसका संधान श्रीलाल शुक्ल ने सत्तर के दशक में कर लिया था।''कुछ बेशर्म लड़के है जो कभी कभी परीक्षा पास भी कर लेते है। ''जो बड़े आदमी हैं। रईस वईस हकीम हुक्काम ऊँची नस्ल के लोग उनके लिए कीमती इंसाफ चाहिए।'' और कीमती इंसाफ तो महत्वपूर्ण लोगो का ही मिलता है।'' शुक्ल जी ने न्याय के साथ कीमती जोड़ कर अर्थ का विपर्यय रच दिया। संवेदनशील अभिव्यक्ति के लिए उलटबाँसियों का मेला लगा दिया। वे जिस तरह का जटिल संवेदनशील और ज्वलंत विषय उठा रहे थे उसे और किस भाषा में रचा जा सकता था? ''और सच पूछो तो मुझे यूनिवर्सिटी में लेक्चरर न होने भी कोई गम नहीं है। वहाँ और भी नरक है, कुंभीपाक नरक दिनरात चापलूसी (रागदरबारी)।'' यह शिक्षातंत्र की प्रतिगामी ही नहीं बल्कि अधोगामी किंतु सत्य चरित्र है। यहाँ उन्नति की सीढ़ियाँ चापलूसी पर निर्भर है। अप्रकाशित पुस्तक संदर्भग्रंथ की सूची में सिर ताने खड़ा है। अहंकार का छप्पन इंच सीना विश्वविद्यालयों के गालियारों में घूम रहा है। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं, ''अफसरनुमा चपरासी चपरासीनुमा अफसर'' यह बहुध्वन्यात्मक है। इसका अर्थ एक पंक्ति में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अपनी बात कहने के लिए हास्य व्यंग्य पैरोडी के साथ–साथ लोककथाओं का भी आश्रय लेते हैं, शुक्ल जी। 'कौड़िल्ला छाप' इंसाफ पूरे राष्ट्र पर व्याप्त है इसी 'कौडिल्ला छाप इंसाफ' से नये राष्ट्रवाद का उदय हो रहा है। भटकावों और भ्रांतियों को सांस्कृतिक क्रांति के रूप में देखा जा रहा है। लालकिले की घोषणा 'भारत की अर्थव्यवस्था विष्व में छठे क्रमांक पर है' पर 'कौडिल्ला

छाप इंसाफ' 'नरो वा कुंजरो' की तरह 'निजी' या 'देश की' कहना भूल जाता है। ''क्योंकि सारे देश की तरह शिवपालगंज में भी किसी तरह केवल अमीर बन जाने से आदमी सम्मानपूर्ण बन जाता है।'' किसी संस्था का फोकट में पैसा खा लेने भर से आदमी का सम्मान नष्ट नहीं हो जाता।'' भ्रष्ट्राचार के अब तक खींचे गए सर्वाधिक कठोरचित्रों में से एक है यह कृति। 'रागदरबारी' जीवनदि्ष्ट से संपन्न एक महान व्यंग्य रचना सिध्द हुई । व्यंग्य उपन्यास के पूरे कैनवस पर छा जाता है।'' बाबु रंगनाथ तुम्हारे विचार बहुत ऊँचे है। पर कुल मिलाकर इससे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।'' तो ऊँचे विचार को देशनिकाला दे दिया गया? क्यों कि विचार धारण करने वाला मस्तिष्क उसे ढोने वाली देह ढोर (जानवर) गधा सिध्द होती जा रही है। क्या यह अव्यक्त का वक्तव्य नहीं है? कोई नायक नहीं। कथासूत्रता नहीं। उपन्यास के तत्व नहीं। बस है तो अनैतिकता का साम्राज्य। अराजक तत्वों की चाँदी। निर्लज्जता का ताण्डव। दो–दो रूपये की लूट और समाज है कि, लंगड़ की असफलता पर ताली पीट रहा है। आप उपन्यास को आदि मध्य अंत कहीं से उठा कर पढ़ लें ये आपके खेल में खलल डाल ही देगा यही कारण है कि दोनो बंदर मदारी के सामने बड़ी गंभीरता से मुँह फुला कर बैठे हैं। मदारी जहन्नुम में जाने के बजाय वहीं पर जोर जोर से गाने लगा था (अंत का पूरा पैरा विजुअल लिटरेचर है जो सिनेमा के गीत की याद दिला देता है 'समझने वाले समझ गए जो न समझे अनाड़ी हैं।') राजनीतिक फ्रेम में बिखरे समाज का सघन उपन्यास जिसमें शब्दों का अहंकार नहीं है। फटी हुई तहमद चीकटदार कुरता और बजती हुई डुगडुगी। यही हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियत की तस्वीर है। इस अंतहीन व्यथा का कोई अंत नही। 'रागदरबारी' के बेतरह याद आने का सबब खलीलुरर्हमान आजमी के शब्दों को उधार लेकर कह दूँ–

अभी वही है निजामे कोहना

अभी तो जुल्मों सितम वही है

अभी मैं किस तरह मुस्कराऊँ

अभी तो रंजोअलम वही है